शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

आषाढ़ : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : ३

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

यह है श्रीगुरु का उपदेश

आदेशोऽयं सद्गुरुणां रहस्यं सिद्धान्तानामेतदेवाखिलानाम्।
कर्तव्यानां मुखकर्तव्यमेतत्कार्या यत्स्वे चित्स्वरूपे विशुद्धि ॥२३॥

अपने चैतन्यस्वरूप में विशुद्धता प्राप्त करना ही
सद्गुरुओं का आदेश है, वही समस्त सिद्धान्तों का
रहस्य है और वही समस्त कार्यों में
मुख्य कर्तव्य है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१३५]

एक अंक
चार आना

श्रीजैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

आत्मा की लगन

हंस! स्मरसि द्रव्याणि पराणि प्रत्यहं यथा।
तथा चेत् शुद्धचिद्रूपं मुक्तिः किं ते न हस्तगा॥३॥

रे चेतन हंस! जिसप्रकार तू प्रतिदिन परद्रव्यों का स्मरण चिंतन करता है, उसीप्रकार यदि शुद्धचिद्रूप आत्मा का स्मरण-चिंतन करे तो क्या तुझे मुक्ति हस्तगत न हो?-अवश्य हो जाये।

[तत्त्वज्ञानतरंगिणी : अध्याय १५]

ज्यों मन विषयों में रमे, त्यों हो आतमलीन,
क्षण में शिव सम्पति वरै, क्यों भव भ्रमे नवीन॥५॥

—योगसार दोहा

आत्मधर्म

आषाढ़ : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : ३

कारणशुद्धपर्याय (२)

अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति त्रिकाल है परमार्थवचनिका में से आगम अध्यात्म स्वरूप पर किये गये प्रवचन।

अहो ! इस बात का जिसने स्वीकार किया, वह जीव मोक्षमार्ग में आ गया। द्रव्यस्वभाव का वर्तमान परिणमन मेरे परिपूर्ण कारणरूप से प्रवर्तमान है—ऐसी जहाँ स्वीकृति हुई, वहाँ अपूर्व सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है। सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त वस्तुस्वभाव की ऐसी अलौकिक बात अन्यत्र कहीं तीनकाल में नहीं मिल सकती और सर्वज्ञ के भक्त (साधक) के सिवा कोई इस बात को यथार्थ मानने समर्थ नहीं है। यह बात यथार्थरूप से स्वीकार करनेवाले को वर्तमान वर्तती हुई परिपूर्ण वस्तु श्रद्धा में आ जाती है, इसलिये वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

यह लो, यह जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव के मार्ग का रहस्य ! इस बात की यथार्थ समझ सर्वज्ञ होने का मार्ग है। जो जीव अंतरंग प्रीतिपूर्वक यह बात सुनेगा, समझेगा, श्रद्धा करेगा, उसका अपूर्व कल्याण होगा। —पूज्य गुरुदेव

❀ नियमसार की तीसरी गाथा में शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को कार्यनियम कहा और उसके साथ शुद्ध ज्ञानचेतना-परिणाम को कारणनियम कहकर वर्णन किया। इसप्रकार वहीं से कारणशुद्धपर्याय का संकेत कर दिया है।

❀ फिर दसवीं गाथा में उपयोग के भेदों का वर्णन करते हुए कारणस्वभावज्ञानोपयोग और कार्यस्वभावज्ञानोपयोग की बात कही है, उसमें भी यह ध्वनि है। कारणज्ञान को ग्यारह-बारहवीं

गाथा में ''स्वरूपप्रत्यक्ष'' कहा है; और इस कथन को ''ब्रह्मोपदेश'' कहा है।

❀ तत्पश्चात् तेरहवीं गाथा में कारणस्वभाव दर्शनोपयोग और कार्यस्वभावदर्शनोपयोग का अथवा कारणदृष्टि और कार्यदृष्टि का मुख्य वर्णन करके उसमें यह बात रख दी है।

❀ और पन्द्रहवीं गाथा में स्वभावपर्याय के, कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय ऐसे दो प्रकारों का वर्णन किया है। उनमें इस कारणशुद्धपर्याय का स्पष्ट वर्णन किया है। तदुपरान्त अन्य अनेक स्थानों पर भी इस बात की झन्कारें पद्मप्रभमलधारिदेव ने रखी हैं। स्थान-स्थान पर कारण और कार्य का साथ ही साथ वर्णन किया है, इसलिये मात्र क्षणिककार्य की पर्यायबुद्धि न हो किन्तु कारणरूप ध्रुव स्वभावोन्मुख होकर पर्याय निर्मल हो, वही सच्चा कार्य है।

❀ पुनश्च, समयसार गाथा ९० में कहा है कि ''परमार्थ से तो उपयोग शुद्ध निरंजन अनादिनिधनवस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावरूप से एक प्रकार का है।''—उसमें से भी कारणशुद्धपर्याय की ध्वनि प्रगट होती है।

❀ और पं. बनारसीदासजी ने परमार्थवचनिका में आगम-अध्यात्म के स्वरूप का वर्णन किया है, उसमें भी अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति का वर्णन करके यह बात बतलाई है। वहाँ तो अन्त में कहा है कि—यह वस्तु वचनातीत है, इन्द्रियातीत है, ज्ञानातीत अर्थात् तर्कातीत है; अधिक क्या लिखें? जो ज्ञाता होगा, वह तो थोड़ा लिखा भी बहुत समझेगा। जो अन्तर की यह बात समझे उसका कल्याण हुए बिना नहीं रहेगा। नियमसार की तीसरी गाथा में ''शुद्धचेतनापरिणाम'' कहकर वर्णन किया है, और यहाँ ''शुद्धचेतनापद्धति'' कहकर उसी का वर्णन किया है। इसमें बहुत अच्छी बात है, इसलिये उसकी वचनिका हो रही है। इस समय दूसरी बातें लक्ष से निकालकर यह समझना चाहिये कि यह कौन-सी शैली कही जा रही है।

''वस्तु का जो स्वभाव, उसे आगम कहते हैं;

आत्मा का जो अधिकार, उसे अध्यात्म कहते हैं;

आगम तथा अध्यात्मस्वरूप भावों को आत्मद्रव्य का समझना चाहिये।

उन दोनों को संसारदशा में त्रिकालवर्ती मानना चाहिये।

देखो, यह गुलाबजामुन जैसा रसपूर्ण अधिकार परोसा जा रहा है। बात सूक्ष्म है, जिसकी समझ में आये उसे समझना चाहिये और जो न समझ सके उसे—''यह कोई अचिन्त्य मोक्षमार्ग का वर्णन हो रहा है''—ऐसी महिमा लाकर सुनना चाहिये।

शास्त्रों को आगम कहा जाता है, वह बात यहाँ नहीं है; और जिसमें छहों द्रव्यों का वर्णन हो वह आगम, तथा जिसमें आत्मा का ही प्रधानता से वर्णन हो, वह अध्यात्म—ऐसा भी यहाँ आगम-अध्यात्म का अर्थ नहीं है। यहाँ तो शैली ही भिन्न है। ''वस्तु का जो स्वभाव, उसे आगम कहते हैं।'' ''वस्तु का स्वभाव'' कहने से यहाँ ''पर्याय का स्वभाव'' समझना चाहिये; आगमपद्धति और अध्यात्मपद्धति—इन दोनों में यहाँ परिणाम की ही बात है। विकारी भाव मूल द्रव्य-गुण में नहीं हैं किन्तु पर्याय में अनादि से परंपरागत चले आ रहे हैं; इसलिये वे आगमपद्धतिरूप हैं। एक समयपर्यंत पर्याय उस विकार को बनाये रखती है, इसलिये वह विभाव, पर्याय का स्वभाव है। विकार के निमित्तरूप जड़ कर्म हैं, उन्हें भी आगमपद्धति में लेंगे।

अध्यात्मपद्धति तो आत्मा के स्वाभाविक परिणाम हैं, और आगमपद्धति आत्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाले परिणाम हैं। आत्मा की पर्याय में विकार अनादि से परम्परागत होता रहता है, और उसके निमित्तरूप कर्म का सम्बन्ध भी अनादिकाल से है; वह विकार और कर्म न तो आत्मा के स्वभाव में हैं और पुद्गल के। कर्म होने का त्रिकाली गुण पुद्गल में नहीं है, और विकार होने का कोई त्रिकाली गुण आत्मा में नहीं है; वे क्षणिक आगन्तुक भाव हैं; उन्हें यहाँ आगमपद्धति कहा है। आगमपद्धति आत्मा का मूलस्वभाव नहीं है, किन्तु आत्मा के साथ क्षणिक सम्बन्ध रखनेवाले परिणाम हैं।

आत्मा का जो अधिकार, उसे अध्यात्म कहते हैं। अध्यात्मपद्धति में त्रिकाल शुद्धचेतना-परिणाम लेंगे, वह आत्मा का मूल स्वभाव है; इसलिये उसमें आत्मा का अधिकार कहा है।

यह आगम तथा अध्यात्मस्वरूपभाव आत्मद्रव्य के जानना। अध्यात्मस्वरूपभाव तो आत्मा के शुद्धस्वभावपरिणाम हैं, और आगमरूपभाव वे क्षणिक विभावरूप हैं, उस विभाव में कर्म निमित्त है, इसलिये उस कर्म को भी यहाँ आत्मा का भाव कहा है।

''यह आगमरूप तथा अध्यात्मरूप—दोनों भाव संसार अवस्था में त्रिकालीवर्ती मानना।'' देखो, इसमें मूल मुद्दा है। विभाव और कर्म परिणामरूप आगमपद्धति संसार अवस्था में सदैव वर्तती है,—यह बात तो समझ में आ सकती है, किन्तु उस संसार अवस्था के समय अध्यात्मपद्धतिरूप शुद्धचेतना परिणाम भी सदैव वर्त रहे हैं;—यह मुख्य अलौकिक बात है; इसमें से कारणशुद्धपर्याय की ध्वनि निकलती है।

आगमपद्धति और अध्यात्मपद्धति—इन दोनों में परिणाम की अर्थात् पर्याय की बात है। वे

दोनों संसारदशा में त्रिकालवर्ती हैं, किन्तु उनमें इतना अंतर है कि अध्यात्मपद्धतिरूप शुद्धचेतनापरिणति तो संसार में और मोक्ष में भी अनादि-अनंत एकरूप वर्तती है; और आगम-पद्धति के परिणाम संसारदशा में ही होते हैं, वे एकरूप नहीं हैं। सर्व जीवों को यह दोनों प्रकार के भाव संसार में सदैव वर्तते हैं।

प्रश्नः—मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय काहे में आई?

उत्तरः—यहाँ आगम तथा अध्यात्मस्वरूपभाव आत्मद्रव्य के ''जानना'' तथा संसारदशा में उन्हें त्रिकालवर्ती ''मानना''—ऐसा कहा, उसमें जानने और मानने रूप जो निर्मल पर्याय है, वह मोक्षमार्ग है और उसका फल मोक्ष है। अध्यात्मपद्धति और आगमपद्धति इन दोनों को जानने से, जीव के शुद्धस्वभावरूप भाव और क्षणिक विभावरूप भाव - इन दोनों का भेदज्ञान होकर मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है; यह मोक्षमार्ग की पर्याय तो नई अपूर्व प्रगट होती है; और आगमपद्धति तथा अध्यात्मपद्धति तो ज्ञानी या अज्ञानी सर्व जीवों के अनादिकाल से संसार में प्रवर्तमान ही है।

यह वस्तु बिल्कुल अन्तर के विषय की है। यह वस्तु अमुक लोगों की ही समझ में आयेगी, किन्तु सबको ध्यान रखकर सुनना चाहिये। यह बात सुनने को मिलना भी दुर्लभ है, तो फिर जो समझ ले उसकी तो बात ही क्या!

अनादि संसार से सर्व जीवों को आगम और अध्यात्मरूप भाव वर्त रहे हैं। उनमें आगमरूप कर्मपद्धति है, और अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति है।

(१) जड़कर्म और उन कर्मों की ओर का विकारीभाव—इन दोनों की परम्परा अनादि से चली आ रही है; वे दोनों कर्मपद्धति में आ जाते हैं, वे आगमरूप हैं।

(२) और उनके साथ ही शुद्धचेतनापरिणामों की परम्परा भी अनादि से चली आ रही है, वह शुद्धचेतनापद्धति है, और अध्यात्मरूप है।

अब कर्मपद्धति तथा शुद्धचेतनापद्धति—इन दोनों का विवेचन करते हैं। उनमें पहले कर्मपद्धति का विवेचन :—

(१) ''कर्मपद्धति'' पौद्गलिक द्रव्यरूप अथवा भावरूप है। उसमें द्रव्यरूप तो पुद्गल के परिणाम हैं और भावरूप पुद्गलाकार आत्मा को अशुद्ध परिणतिरूप परिणाम हैं। उन दोनों परिणामों की स्थापना आगमरूप से की है।

पुद्गल में अनादि प्रवाह से कर्मरूप अवस्था चली आ रही है, वह द्रव्यरूप कर्मपद्धति है।

और जीव में भी मूल स्वभाव में अशुद्धता न होने पर भी, पर्याय में अनादि से अशुद्धता की परम्परा चली आ रही है, वह भावरूप कर्मपद्धति है। जीव की अशुद्धपरिणति, पुद्गल कर्म के आश्रय से होती है, इसलिये उस अशुद्धता को ''पुद्गलाकार'' कहा है। पुद्गल में अष्टकर्मरूप अवस्था, वह द्रव्यकर्म पद्धति है और उसके निमित्त से होनेवाली जीव की अशुद्ध परिणति, वह भावरूप कर्मपद्धति है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना कि जिसप्रकार यह कर्मपद्धति परिणामरूप है, उसी प्रकार शुद्धचेतनापद्धति भी परिणामरूप लेंगे।

प्रश्नः—त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार न होने पर भी पर्याय में क्यों होता है ? क्या द्रव्य-गुण में से वह विकार आया है ?

उत्तरः—त्रिकाली द्रव्य-गुण में विकार न होने पर भी पर्याय में विकार होता है; वहाँ ऐसा ही कर्मपद्धति का स्वभाव है, अर्थात् उस-उस पर्याय का ऐसा अहेतुक स्वभाव है। वह विकार द्रव्य-गुण में से भी नहीं आया, और दूसरे द्रव्यों में से भी नहीं आया, किन्तु वह पर्याय वैसे विकारी भावरूप से हुई है—ऐसा ही उस पर्याय का स्वभाव है। देखो, पुद्गल परमाणुओं में ऐसा कोई त्रिकाली गुण नहीं है कि कर्मरूप परिणमित हों; तथापि वह कर्मअवस्था होती है, वह कहाँ से आई ?—कहते हैं कि ऐसी ही उस पर्याय की पद्धति है। उसी प्रकार जीव में भी ऐसी कोई त्रिकाली शक्ति नहीं है कि विकार उत्पन्न करे, फिर भी उस की अवस्था में विकार होता है, वह कहाँ से आया ?—कहते हैं कि ऐसी ही उस पर्याय की पद्धति है, ऐसा ही उस पर्याय का अहेतुक स्वभाव है।

''चिद्विलास'' ग्रंथ में इस सम्बन्ध में कहा है कि जिसप्रकार पुद्गल वस्तु में स्कन्ध-कर्म-विकार हो—ऐसा कोई गुण तो नहीं है, किन्तु उस पुद्गल वस्तु के परिणाम उस स्कंधविकार भावरूप स्वांग धारण करके परिणमित होते हैं, अन्य किसी द्रव्य के परिणाम उस कर्म-विकार भाव को धारण करके परिणमित नहीं होते, किन्तु यह एक पुद्गल ही वह स्वांग धारण करके प्रवर्तमान होते हैं—यह निःशंक है। उसी प्रकार इस जीववस्तु के परिणाम भी रंजक-मलिन, संकोचविस्तार, अज्ञान, मिथ्यादर्शन, अविरति आदि चेतनविकाररूप होकर परिणमित होते हैं; ऐसा चेतन विकारभाव तो उस चेतनद्रव्य के परिणामों में देखा जाता है, अचेतनद्रव्य के परिणामों में वह कभी नहीं देखा जाता।

—यह बात निःसन्देह है। इसप्रकार जो विकारभाव है, वह अपने अपने परिणामों में होते हैं और उस-उस द्रव्य के परिणामों के आश्रित वह विकार होता है। उसे भी निश्चयसंज्ञा कहा जाता है।

यहाँ इतना बतलाना है कि त्रिकाली द्रव्य में या गुण में विकार न होने पर भी पर्याय में विकार होता है—ऐसा ही उसका कोई स्वभाव है। उसमें से पुद्गल में कर्मरूप विकारी अवस्था की जो परम्परा अनादि से चली आ रही है, वह द्रव्यरूप कर्मपद्धति है, और जीव में अशुद्धतारूप विकारी अवस्था की जो परम्परा अनादि से चली आ रही है, वह भावरूप कर्मपद्धति है। कर्मपद्धति के यह द्रव्यरूप और भावरूप - इन दोनों परिणामों की आगमरूप स्थापना की है। इस कर्मपद्धति के परिणाम मोक्षगामी भव्य जीव के अनादि शांत हैं और मोक्ष के लिये अयोग्य जीव को अनादि-अनन्त हैं।-इसप्रकार जीव को जबतक संसार है, तबतक इन परिणामों की परम्परा त्रिकालवर्ती मानना। और अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति में शुद्ध परिणामों की परम्परा है, वह तो सर्व जीवों को अनादि-अनन्त प्रति समय वर्तती है-ऐसा जानना।

देखो, यहाँ कर्मपद्धति को आगम कहकर आगम की व्याख्या भी भिन्न शैली से की है; और शुद्धचेतनापद्धति को अध्यात्म कहकर उसकी व्याख्या भी भिन्न प्रकार से करेंगे।

जीव में विकार और पुद्गलकर्म—इन दोनों परिणामों की स्थापना आगमरूप से की, इसलिये ऐसी ही अनादि परम्परा है—''ऐसा क्यों?''—ऐसा कोई तर्क उसमें नहीं है; अपने-अपने कारण से ऐसी ही पर्यायें होती हैं- ऐसा ही कर्मपद्धति का स्वभाव है। विकार वस्तु का मूलस्वभाव नहीं है, किन्तु आगन्तुक भाव है-अनादि-परम्परा से वह चला आ रहा है, इसलिये उसे ''आगम'' कहा है। जीव के द्रव्य-गुण में विकार नहीं है, तथापि पर्याय में हुआ, उसी प्रकार पुद्गल के द्रव्य-गुण में कर्म होने का स्वभाव न होने पर भी कर्मरूप पर्याय हुई—ऐसा ही कोई अहेतुक स्वभाव है, ऐसा जानना। यह जान ले तो भेदज्ञान हुए बिना न रहे।

—इसप्रकार आगमरूप कर्मपद्धति का विवेचन पूरा हुआ।

अब अध्यात्मरूप शुद्धचेतना पद्धति का विवेचन करते हैं।

[२] ''शुद्धचेतना पद्धति'' अर्थात् शुद्धात्मपरिणाम भी द्रव्यरूप और भावरूप—दो प्रकार के हैं। उनमें द्रव्यरूप तो जीवत्वपरिणाम हैं और भावरूप ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अनन्तगुण परिणाम हैं। इन दोनों परिणामों को अध्यात्मरूप जानना।

यहाँ नियमसार की कारणशुद्धपर्याय के साथ संधिवाली जो मुख्य बात लेना है, वह इस शुद्धचेतनारूप अध्यात्मपद्धति में से निकलती है। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यादि समस्त गुणों में संसार अवस्था के समय भी शुद्ध परिणामों की परम्परा प्रवर्तमान है—तो वे कौन-से शुद्धपरिणाम

लोगे ? संसारदशा के समय जो प्रगट उत्पादरूप परिणाम हैं, वे कहीं शुद्ध नहीं है, उनमें तो अशुद्धता है। यदि प्रगट उत्पादपरिणामों में सदैव शुद्धता ही हो तो किसी जीव के संसार ही नहीं रहा। इसलिये यह प्रगट उत्पादरूप परिणामों की बात नहीं है। और त्रिकाली द्रव्य-गुणों की भी यह बात नहीं है; क्योंकि आगम और अध्यात्म दोनों पद्धतियों में परिणामों की ही बात है। अध्यात्म पद्धति में जो त्रिकालवर्ती शुद्ध परिणाम कहे हैं, वे ध्रुवरूप हैं, सदैव सदृश परिणामरूप हैं। पूर्ण जीवद्रव्य की ध्रुव परिणतिरूप शुद्धपरिणामों की जो परम्परा है, वह द्रव्यरूप शुद्धचेतनापद्धति है। और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि प्रत्येक गुण में ध्रुवपरिणतिरूप शुद्धपरिणामों की जो परम्परा है, वह भावरूप शुद्धचेतनापद्धति है। द्रव्यरूप शुद्धचेतनापद्धति में तो पूर्ण जीवद्रव्य के परिणाम लिये हैं और भावरूप शुद्धचेतनापद्धति में प्रत्येक गुण के परिणाम लिये हैं।

नियमसार की तीसरी गाथा में ''शुद्धज्ञानचेतनापरिणामों'' को स्वभाव अनन्तचतुष्टयात्मक कहा, और यहाँ ''शुद्धचेतनापद्धति'' कहकर उसमें अनन्त गुणों के परिणाम लिये। ''शुद्धचेतनापरिणाम'' कहे, उसमें अकेले ज्ञान-दर्शन के परिणामों की बात नहीं है, किन्तु अभेदरूप से उसमें अनन्त गुणों के परिणाम आ जाते हैं, उन्हें यहाँ ''जीवत्वपरिणाम'' कहा है। इसप्रकार जीवद्रव्य में और उसके समस्त गुणों में सदृशरूप शुद्धपरिणाम अनादि-अनन्त पारिणामिकभावरूप से शुद्धकारणरूप से वर्त रहे हैं, उसे यहाँ अध्यात्मरूप शुद्धचेतनापद्धति कहा है; नियमसार में उनका वर्णन कारणशुद्धपर्यायरूप से किया है। यह कारणशुद्धपरिणाम सर्व जीवों में त्रिकाल वर्तमान-वर्तमान वर्त रहे हैं, संसारदशा के समय भी हैं और अज्ञानी के भी हैं। ''परिणाम'' कहने पर भी उनका द्रव्यार्थिकनय के विषय में समावेश होता है। देखो, यह भाव आत्मा में से आते हैं; आत्मा के स्वभाव में जो वस्तु प्रवर्तमान है, उसे विषय करने की यह बात है। यह अन्तर की अलौकिक-समझने योग्य बात है।

आगमपद्धति में जीव के विकारी परिणामों को पुद्गलकार कहा था; यहाँ अध्यात्मपद्धति में चेतनापरिणाम अर्थात् कारणशुद्धपर्याय है, वह जीव के स्वभावाकाररूप है। स्वभावाकार परिणति जीव में सदैव शुद्धरूप से प्रवर्तमान है।

पद्धति का क्या अर्थ है ?-कि परम्परागत प्रवाह, अथवा रीति-रिवाज; परम्परा से जो रिवाज चला आ रहा हो, उसे पद्धति कहते हैं। आत्मा के रीति-रिवाज क्या हैं ? अर्थात् उसकी पद्धति क्या है ?-वह यहाँ बतलाते हैं। भाई ! शुद्धचेतनापरिणाम की परम्परा ही तेरे आत्मा की

पद्धति है, उसी में तेरे आत्मा का अधिकार है। विकार की परम्परा में आत्मा का अधिकार नहीं है, अर्थात् आत्मा के स्वभाव में विकार का स्वामित्व नहीं है।

कर्मपद्धतिरूप पर्याय, वह आगम और शुद्धचेतना पद्धतिरूप पर्याय, वह अध्यात्म; वे दोनों अनादि से साथ ही साथ चले आ रहे हैं; तथापि आगम में अध्यात्म नहीं है और अध्यात्म में आगम नहीं है; अर्थात् विकार की परम्परा में आत्मा का स्वभाव नहीं है, और आत्मा के स्वभावपरिणाम की परम्परा में विकार का अधिकार नहीं है। कर्मपद्धति में आत्मा का अधिकार नहीं है, इसलिये विकार में ढूँढ़ने से आत्मा नहीं मिलेगा। शुद्धचेतनापद्धति में ही आत्मा का अधिकार है। जिसमें आत्मा का स्वामित्व है, जिस परिणाम में आत्मा सदैव विद्यमान है–ऐसे शुद्धचेतना के रीति-रिवाजरूप शुद्धात्मपरिणाम हैं, वे अध्यात्मरूप हैं, उनमें आत्मा का अधिकार है, इसलिये उनकी सन्मुखता से आत्मा प्राप्त होगा।

(१) एक तो विकार तथा कर्म की धारा अनादि से परम्परागत चली आ रही है, वह आगमपद्धति,

(२) दूसरी, शुद्धता की धारा अर्थात् शुद्धचेतनापरिणतिरूप धारा भी अनादि से परम्परागत चली आ रही है, वह अध्यात्मपद्धति।

—इसप्रकार विकार और शुद्धता दोनों की धारा अनादि परम्परा से चली आ रही है। इसमें से यहाँ शुद्धता की धारा को (कारणशुद्धपर्याय को) कारणरूप से स्वीकार किया, वहाँ मोक्षमार्गरूप निर्मलपर्याय की धारा प्रारम्भ होती है। यहाँ तो मुख्य दो ही विभाग किये हैं; एक ओर जड़कर्म और उनकी ओर के भावरूप पुद्गलाकार अशुद्धपरिणति, वह कर्मपद्धति; और दूसरी ओर शुद्धचेतनास्वभाव तथा उस स्वभावाकाररूप शुद्धचेतनापरिणति, वह शुद्धचेतनापद्धति; उनमें से कर्मपद्धति की ओर उन्मुखता, वह संसारपद्धति है और शुद्धचेतना परिणति की ओर उन्मुखता, वह मोक्षमार्ग है।

आगम और अध्यात्म दोनों पद्धतिओं में अनंतता कही, उसका अर्थ ऐसा समझना कि आगमरूप कर्मपद्धति में तो जीव का विकार अनंतप्रकार का है और उसके निमित्तरूप कर्म में भी पुद्गल अनंतानंत हैं; इसलिये उस आगमपद्धति में अनंतता है; और अध्यात्मपद्धति शुद्ध जीवद्रव्य के आश्रित है; उसमें भी ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अनन्त गुण होने से उन अनंत गुणों के अनंतपरिणाम एक समय में हैं, इसलिये अध्यात्मपद्धति में भी अनन्तता हुई।—इसप्रकार दोनों पद्धतिओं में अनन्तता समझना।

विभाव की परम्परा अनादि से चली आ रही है, उसे आगमपद्धति कहा है, और शुद्धता की परम्परा अनादि से चली आ रही है, उसे अध्यात्मपद्धति कहा है।

जगत में एक ओर कर्म और विकार प्रवाहरूप से अनादि-अनन्त हैं, और दूसरी ओर केवलज्ञान तथा कारणशुद्धपर्याय अनादि-अनंत है।—सर्व जीवों की अपेक्षा से जगत में यह दोनों धाराएँ अनादि-अनंत चल रही हैं; किन्तु उनका भान करके भेदज्ञान करनेवाले को अपने लिये कर्म और विकार अनादि-सांत हो जाते हैं, और केवलज्ञान प्रगट होता है, वह अपने लिये सादि-अनंत है। कारणशुद्धपर्याय तो सर्व जीवों के अनादि-अनंत हैं। इधर ''कारण'' की ओर उन्मुख हुआ, वहाँ निर्मल कार्य प्रगट होता जाता है और आगमपद्धति (कर्म तथा विकार) छूट जाती है। ज्ञानी के भी जितना विकार होता है, उसका आगमपद्धति में समावेश होता है, और जो शुद्धता प्रगट हुई, वह मोक्षमार्गरूप है। आत्मा के सहजशुद्ध चेतनापरिणामरूप अध्यात्मपद्धति अनादि-अनंत है, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग तथा मोक्षरूपी कार्य प्रगट हो जाता है। इसप्रकार कारणशक्ति के मनन से कार्य प्रगट हो जाता है।

समस्त संसारी जीवों के अनादि-अनंत चार प्रकार वर्तते हैं:—

(१) नई-नई विकारी पर्याय प्रतिसमय होती आ रही है,

(२) जड़कर्म की अवस्था नई-नई होती आ रही है,

— यह दोनों प्रकार आगम पद्धति में हैं।

(३) द्रव्य के सदृश वर्तमान रूप शुद्ध आत्मपरिणाम अथवा जीवत्व परिणाम, और

(४) अनंतगुणों की सदृशरूप शुद्धपरिणति;

—यह दोनों प्रकार अध्यात्मपद्धति में हैं।

इनमें से शुद्धपरिणामरूप अध्यात्मपद्धति में आत्मा का अधिकार है, अर्थात् वह आत्मा का मूल स्वभाव है। यहाँ जो चार प्रकार कहे हैं, उन चारों में ''परिणाम'' की बात है। जीव और पुद्गल—इन दोनों त्रिकाली द्रव्यों को तो ज्यों का त्यों रखकर यहाँ परिणाम की परम्परा बताई है। उसमें अध्यात्मपद्धति में जो शुद्धचेतनापरिणाम (द्रव्यरूप और भावरूप) कहे हैं, वे परिणाम उत्पादव्ययरूप नहीं है—विसदृश नहीं हैं, किन्तु सदैव एकरूप सदृशरूप से प्रवर्तमान हैं; सदैव जीवद्रव्य में निमग्न तन्मयरूप शुद्धपरिणति ध्रुवरूप से सदैव जीव के साथ ही वर्तती है,-उसकी यह बात है। मोक्षमार्ग या मोक्षपरिणति की भी यह बात नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि यह

ध्रुवपरिणति शुद्धकारणरूप से वर्तती है, इसके आश्रय से मोक्षमार्ग और मोक्षपर्याय प्रगट हो जाती है। त्रिकाली स्वभाव का वर्तमान परिणमन सदैव एकसमान शुद्धरूप वर्त रहा है, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का और मोक्ष का आधार है।

अहो! जिसने इस बात का स्वीकार किया, वह जीव मोक्षमार्ग में आया। द्रव्यस्वभाव का वर्तमान परिणमन मेरे पूर्ण कारणरूप से वर्त रहा है-ऐसी जहाँ स्वीकृति हुई, वहाँ अपूर्व सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है। सर्वज्ञ-मार्ग के अतिरिक्त वस्तुस्वभाव की ऐसी अलौकिक बात अन्यत्र कहीं तीन काल में नहीं हो सकती, और सर्वज्ञ के भक्त के सिवा (साधक के सिवा) कोई इस बात को यथार्थ मानने में समर्थ नहीं है। इस बात का यथार्थरूप से स्वीकार करनेवाले को वर्तमान वर्तती हुई पूर्ण वस्तु श्रद्धा में आ जाती है, इसलिये वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

लो, यह जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव के मार्ग का रहस्य!! प्रत्येक आत्मा ऐसे परिणामवाला है और जगत में ऐसे अनंत आत्मा है। इस बात की यथार्थ समझ, वह सर्वज्ञ होने का मार्ग है। अहो! पं. बनारसीदासजी ने इस परमार्थ वचनिका में आगम-अध्यात्म का स्वरूप लिखकर, अलौकिक बात कही है। जो जीव अंतरंग प्रीतिपूर्वक यह बात सुनेगा, समझेगा, श्रद्धा करेगा, उसका अपूर्व कल्याण हो जायेगा।

''अलौकिक परमार्थ-स्वरूप-प्रकाशक श्री सद्गुरुदेव की जय हो....''

अचिन्त्य चैतन्यस्वरूप

[राणपुर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

भगवान ! अनादि से तूने शुभ-अशुभभाव तो किये, तथापि चैतन्यस्वरूप लक्ष में न आया, तो उन शुभाशुभभावों की अपेक्षा तेरे चैतन्यतत्त्व की जाति कुछ भिन्न है—ऐसा अंतर में विचार करके निर्णय कर तो तुझे धर्म हो और संसारपरिभ्रमण का अंत आ जाये।

अहो ! अचिन्त्य आत्मस्वभाव के अनुभव में एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का अवलम्बन है ही नहीं; कोई बाह्य साधन है ही नहीं। भाई ! तेरा आत्मा तुझे अपने ज्ञान द्वारा ही अनुभव में आ सकता है।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, कि जिसे जाने बिना जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है ? और जिस स्वरूप को जानने से उस परिभ्रमण का अंत आ जाये—उसका यह वर्णन है। आत्मा के परमार्थस्वरूप का वर्णन करते हुए पद्मनन्दिपंचविंशतिका के निश्चय पंचाशत अधिकार में कहते हैं कि—

मनसोऽचिंत्यंवाचामगोचरम् यन्महस्तनोर्भिन्नम्।
स्वानुभवमात्र गम्यं चिद्रूपममूर्तमव्याद्वः ॥२॥

चैतन्यस्वरूपी तेज मन से अचिंत्य है, वचन से अगोचर है और देह से भिन्न है, वह मात्र स्वानुभव से ही गम्य है। ऐसा अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप ही जीवों को शरणभूत है, वह हमारी रक्षा करे ! चैतन्यस्वरूपी भगवान आत्मा देह से भिन्न है, इसलिये देह की किया द्वारा वह ज्ञात नहीं हो सकता; और वह वाणी से अगोचर है, इसलिये वाणी द्वारा भी ज्ञात नहीं हो सकता; और मन से अचिन्त्य है, इसलिये मन के अवलम्बन से जो विकल्प उठता है, उससे भी आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। इसप्रकार देह से भिन्न, वाणी से अगोचर और मन से भी अचिन्त्य—ऐसा चैतन्यस्वरूप आत्मा अंतर के ज्ञान से ही गम्य हो सकता है—अपने स्वसंवेदन ज्ञान से ज्ञात होता है। ऐसे आत्मा की पहिचान का प्रयत्न करना, वह धर्म के प्रारम्भ का उपाय है।

मैं इसप्रकार पर का कार्य कर दूँ—ऐसी चिन्ता जीव मन में करता है, किन्तु उस चिन्ता के कारण बाह्य कार्य नहीं होता, और अंतर का चैतन्यतत्त्व भी उससे नहीं पकड़ा जा सकता। बाह्य कार्य के होने या न होने में जीव की चिन्ता निरर्थक है; और मन में चिन्ता करे, उसके द्वारा अंतर में

धर्मकार्य नहीं होता, इसलिये वह चिन्ता अपने में भी निष्फल है,—ऐसा समझे तो विकल्प की ओर का बल टूट जाये और चैतन्यस्वभाव की ओर का बल प्रगट हो; इसलिये विकल्प छूटकर चैतन्यस्वभाव के साथ ज्ञान की एकता हो—इसका नाम धर्म है। भाई! पर में तेरी चिन्ता निरर्थक है, तेरी चिन्ता के अनुसार पर का कार्य नहीं होता। शरीर, लक्ष्मी आदि की सुरक्षा कैसे की जाये, उसकी बड़ी चिन्ता करता है, तथापि तेरी चिन्ता के आधीन वह वस्तु नहीं रहती। और उस चिन्ता द्वारा आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता भी नहीं होती। अचिन्त्य आत्मस्वभाव मन की एकता से पार है। मन के अवलम्बन से भी पृथक् होकर जो ज्ञान अन्तर स्वभावोन्मुख हो, उसी ज्ञान से शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा का स्व-संवेदन होता है।

आत्मा अनादि से चैतन्यस्वरूप है; उसके मूलस्वरूप को जाने बिना जीव ने अनादि से पुण्य-पाप के भाव किये हैं और उसके फलस्वरूप चारों गति में परिभ्रमण किया है; किन्तु उसमें चैतन्य की शांति कभी प्राप्त नहीं कर सका। अनंतबार शुभभाव करके स्वर्ग में गया, किन्तु आत्मज्ञान के बिना वहाँ भी शांति नहीं मिली। तीव्र पापभाव करके नरक में भी अनंतबार गया, ऐसा मनुष्य अवतार भी अनंतबार प्राप्त कर चुका; किन्तु पाप और पुण्य से पार मेरा चैतन्यतत्त्व क्या है, वह भी कभी सत्समागम से लक्ष में नहीं लिया है। धर्म के बहाने कुछ पुण्यपरिणाम किये, वहाँ मुझे धर्म हुआ—ऐसा अज्ञानी ने भ्रमणा से माना है; किन्तु धर्म का वास्तविकस्वरूप नहीं जाना। अरे! जड़ शरीर के हलन-चलन की क्रिया हो, वहाँ अज्ञानी ऐसा मानता है कि वह क्रिया मैंने की और उससे मुझे धर्म हुआ; वह महान भ्रमणा है; उसे तो अभी देह से भिन्न अपने परिणाम की भी खबर नहीं है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा, देह की क्रिया से तो पार है; वचन से भी अगोचर है और मन के विकल्पों से भी वह अचिन्त्य है। देह-मन-वाणी से पार आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है; उसके परमार्थस्वरूप के स्वानुभवज्ञान से जाने बिना जीव को कदापि धर्म नहीं हो सकता। बाह्य में हीरा-माणेक, वस्त्रादि वस्तुएँ लेने जायें, वहाँ उनकी परीक्षा करता है; अरे! दो पैसे की हंडी लेने जाये, वहाँ भी ठोक बजाकर उसकी परीक्षा करता है; किन्तु आत्मा का धर्म क्या वस्तु है, उसका वास्तविकस्वरूप क्या है—उसकी परीक्षा करके कभी निर्णय नहीं किया। अपना वास्तविकस्वरूप क्या है, उसका निर्णय करने की दरकार भी नहीं करता और ज्यों की त्यों विपरीत मान्यता से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। भगवान! अनादिकाल से तूने शुभ-अशुभ भाव तो किये, तथापि चैतन्यस्वरूप तेरे लक्ष में नहीं आया; तो उन शुभाशुभभावों की अपेक्षा तेरे

चैतन्यतत्त्व की जाति कुछ भिन्न है—ऐसा अंतर में विचार करके निर्णय कर तो धर्म हो और संसारपरिभ्रमण का अन्त आ जाये।

भगवान आत्मा अरूपी आनन्दकन्द है; मन के विकल्प का उसमें प्रवेश नहीं है और वाणी उसे स्पर्श नहीं करती। धर्मात्मा को विकल्प उठता है और सहज ही वाणी में उपदेश निकलता है; किन्तु वह वाणी कहीं अरूपी आत्मा में से नहीं निकलती; और न सुननेवाले आत्मा में वह वाणी प्रविष्ट हो जाती है; इसप्रकार आत्मा, वाणी से अगोचर है। वाणी की ओर का लक्ष छोड़कर ज्ञान को अन्तरोन्मुख करे तो उस ज्ञान से आनन्दकन्द आत्मा अनुभव में आता है। अहो! अनुभव में एक आत्मा के सिवा अन्य किसी का अवलम्बन है ही नहीं, कोई बाह्य साधन है ही नहीं। भाई! तेरा आत्मा तुझे अपने ज्ञान से ही अनुभव में आये ऐसा है। सारा आत्मा ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण और संयोगों से रहित है। ऐसा आत्मा स्वानुभवगम्य है; देह-वाणी-मन से या राग से अगम्य है और मात्र स्वानुभव से गम्य है—ऐसे आत्मा का प्रथम सत्समागम से यथार्थ निर्णय करना चाहिये।

अंतर में स्वानुभव से आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप का सम्यक्भान होने के पश्चात् धर्मी जीव को और धर्म के जिज्ञासु जीव को वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा-प्रभावनादि का शुभराग होता है, पंचपरमेष्ठी भगवान की प्रतिमाजी बनवाकर उनकी स्थापना करने का और प्रतिष्ठा-महोत्सवादि करने का भाव भी आता है; वह भाव कहीं अस्थान में नहीं है। उस भूमिका में उसप्रकार का भाव आता है। धर्मात्मा को भगवान की पूजा-प्रतिष्ठादि का भाव आता ही नहीं—इसप्रकार कोई उसका सर्वथा निषेध करे तो वह मिथ्यादृष्टि है; उसे धर्म की भूमिका की खबर नहीं है। और जो शुभभाव आया, उसी को धर्म मना दे अथवा उससे पाप माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसे नवतत्त्वों की खबर नहीं है। धर्मी को अपनी सर्वज्ञशक्ति का भान हुआ है किन्तु अभी सर्वज्ञता प्रगट नहीं हुई है और राग है, उस समय जिन्हें पूर्ण सर्वज्ञता प्रगट हो गई है—ऐसे केवली भगवान के प्रति और उस सर्वज्ञता के साधक संतों के प्रति बहुमान और भक्ति का उल्लास आये बिना नहीं रहता। साक्षात् तीर्थंकर भगवान विराजमान हों, उन्हें केवलज्ञान होने पर इन्द्र आकर दिव्य समवशरण (धर्मसभा) की रचना करते हैं, उसमें बारह सभाएँ होती हैं और उनके बीच तीन पीठिकाओं पर निरावलम्बी रूप से भगवान विराजमान होते हैं। समवशरण के चारों ओर सुवर्ण और रत्नों के चार मानस्तम्भ होते हैं। भगवान को तो कोई राग या इच्छा नहीं है; इन्द्र सम्यक्त्वी हैं—एकावतारी हैं, उन्हें ऐसा भक्ति का भाव आता है। सोनगढ़ में उस मानस्तंभ का

नमूना है; मानस्तंभ, वह कीर्तिस्तंभ नहीं है किन्तु धर्मस्तंभ है; उसे देखते ही मिथ्यादृष्टियों का अभिमान गल जाता है। भगवान ने पहले पुण्य से पार चिदानन्दतत्त्व का भान किया और पुण्य का निषेध करके चिदानन्दस्वरूप में एकाग्रता से भगवान केवलज्ञान को प्राप्त हुए, वहाँ पुण्य का फल ऐसा आया कि सम्यग्दृष्टि एकावतारी इन्द्र आकर उनके चरणों की सेवा करते हैं और समवशरण की ऐसी अद्भुत रचना करते हैं कि देखनेवाले आश्चर्यचकित हो जायें! धर्मात्मा को राग से पार अपने चिदानन्दस्वभाव का भान है, तथापि उसे ऐसा भक्ति का राग हुए बिना नहीं रहता। धर्मी को राग होता है, इसलिये वे राग से लाभ मानते होंगे—ऐसा नहीं है। राग होने पर भी उस समय धर्मी को भान रहता है कि मैं इस राग से पार हूँ, मेरा स्वरूप तो अचिन्त्य ज्ञानानन्दमय है, मेरे चिदानन्द आत्मा को इस राग का अवलम्बन नहीं है। ऐसे चैतन्यतत्त्व को समझना, वह मूल वस्तु है। ज्ञानानन्दस्वभाव से परिपूर्ण यह चैतन्य भगवान, राग से पार है, उसे स्वसंवेदनज्ञान से जानना, वह अपूर्व वाणी है।

प्रभो! ऐसा मनुष्यभव अनंतकाल में मिला है, यह बार-बार नहीं मिलता। ऐसा मनुष्य अवतार पाकर भी देह से भिन्न आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, वह यदि लक्ष में न लिया तो फिर तेरा आत्मा नरक-निगोद के अवतार में भटकता फिरेगा। इसलिये सत्समागम से आत्मा के निर्णय बिना जीव अनादिकाल से संसार में भटक रहा है, संसार में परिभ्रमण करते हुए उसने अनंतबार चारों गति के अवतार किये हैं। अज्ञानी जीव दयादि के शुभपरिणाम करके उसे धर्म मानता है, किन्तु ऐसे दया के परिणाम करके अनंतबार स्वर्ग में गया, तथापि आत्मा के भान बिना किंचित् भी धर्म नहीं हुआ और न भवभ्रमणा रुका। दया, भक्ति आदि के शुभपरिणाम हों, वह अलग बात है; धर्मी को भी दया-भक्ति के भाव होते हैं, किन्तु उसे अंतर में भान वर्तता है कि यह जो राग परिणाम हैं, वह धर्म नहीं है; मेरा चैतन्यतत्त्व इस राग से भिन्न है। ऐसी अंतर्दृष्टि के कारण ही धर्मी को धर्म होता है; उसके जो राग होता है, वह कहीं धर्म का कारण नहीं है।

तीर्थंकर भगवान को केवलज्ञान होने पर देव आकर दिव्य समवशरण की ऐसी अलौकिक रचना करते हैं कि उसकी शोभा देखकर वे स्वयं ही आश्चर्यचकित हो जाते हैं और कहते हैं कि अहो! ऐसी अद्भुत रचना!! यह हमारी शक्ति का कार्य नहीं है; भगवान के किसी अलौकिक पुण्यप्रताप से यह रचना हो गई है। समवशरण में भगवान को इच्छा रहित सहज ही सर्वांग से दिव्यध्वनि खिरती है; और सिंह, वाघ, हाथी-बन्दर, सर्प और मोर आदि तिर्यंच भी अपनी-अपनी

भाषा में समझ जाते हैं। एकावतारी इन्द्र भी वहाँ आकर भगवान की स्तुति करते हैं; किन्तु उस समय भी वहाँ उनकी दृष्टि अंतर में ज्ञानानन्दस्वरूप पर लगी है। राग होता अवश्य है, किन्तु उसी समय धर्मी को ऐसी अंतर्दृष्टि का परिणमन वर्तता है कि मेरा ज्ञानानन्दस्वरूप इस राग से पार है। मेरा आत्मा, देह से पार है, वचन से या मन से वह गम्य नहीं है और राग से भी अगम्य है, मात्र स्वानुभव से ही गम्य है। अचिंत्य आत्मस्वभाव राग से अर्थात् व्यवहार से ज्ञात नहीं हो सकता, किन्तु स्वसन्मुख होकर अंतर्दृष्टि करे तो आत्मा ज्ञात हो सकता है। व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता; चिदानन्दस्वरूप आत्मा व्यवहार के विकल्पों से पार है; उसे निश्चयनय से अंतरंग में पकड़े तो सम्यक्दर्शन होता है। भाई! ऐसी सत्य बात लक्ष में लेकर उसका पक्ष तो कर... सत्य का निर्णय करके उसका स्वीकार तो कर... फिर उसका अन्तर्मन्थन करते-करते स्वसन्मुख होने पर आत्मा का अनुभव होगा। यदि अंतर में पुरुषार्थ करके एकबार भी ऐसा अपूर्व आत्मभान करे तो जीव को अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त हो जाये और पुनः अवतार न रहे। जीव अनादि से अपने वास्तविक ज्ञानस्वरूप को भूलकर, विकार और देह को अपना स्वरूप मानकर संसार में भटक रहा है। न तो किसी दूसरे ने उसे परिभ्रमण कराया है और न कोई दूसरा उसका तारनेवाला है; स्वयं ही भूल की है, इसलिये भटका है और यथार्थ समझ द्वारा स्वयं उस भूल को दूर करे तो परिभ्रमण का अन्त आ जाये। यदि पर को दोष देता रहेगा तो अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न नहीं करेगा और परिभ्रमण का अन्त नहीं होगा। जिसप्रकार—किसी के मुँह पर मैल लगा हो और वह दर्पण में दिखाई देता हो। वहाँ यदि दर्पण को घिसने लगे तो मुँह पर लगा हुआ मैल कैसे दूर होगा? मैल कहाँ है, उसका ज्ञान न हो, और विपरीत उपाय करे तो मैल दूर नहीं हो सकता। मैल कहाँ लगा है, वह यदि ज्ञात कर ले तो उसे दूर करने का प्रयत्न कर सकता है। उसी प्रकार आत्मा अपनी भूल से संसार में भटक रहा है, उसी की पर्याय में मलिनता और अपराध है; उसके बदले पर के कारण परिभ्रमण हुआ है—ऐसा माने तो वह पर की ओर ही देखता रहेगा, किन्तु अपनी भूल दूर करने का उपाय नहीं करेगा, इसलिये न तो उसकी भूल कभी दूर होगी और न परिभ्रमण का अन्त आयेगा! भाई! अपनी भूल से ही तू भटका है; वह भूल तूने ही की है और तू ही उसे दूर कर तो तेरा परिभ्रमण मिट जाये। भूल तुझमें अवश्य हुई है किन्तु वह क्षणिक है, वह तेरा नित्यस्थायी स्वरूप नहीं है; भूलरहित निर्भ्रान्त ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है; इसलिये ज्ञान द्वारा अंतरस्वरूप की पहिचान करे तो अनादिकालीन भूल दूर हो और शांति प्रगट हो जाये।

आत्मा का ऐसा अचिन्त्यस्वभाव है कि ज्ञान के सिवा किसी अन्य साधन से वह अनुभव में नहीं आ सकता। ज्ञान आत्मा का अवयव है, उसके द्वारा पूर्ण आत्मा अनुभव में आता है। शरीर और जड़ इन्द्रियों से ज्ञान अनुभव में नहीं आ सकता क्योंकि वे पर वस्तुएँ हैं। आत्मा अतीन्द्रिय असंग अखण्ड चैतन्यशरीरी है और मति-श्रुतज्ञान उसके अवयव हैं; उन मति-श्रुतज्ञानरूपी अवयवों को स्वसन्मुख करने से पूर्ण आत्मा के आनन्द का अनुभव होता है। आत्मा के अंश द्वारा आत्मा का अनुभव होता है, किन्तु आत्मा से भिन्न शरीरादि की क्रिया से आत्मा का अनुभव नहीं होता; और राग भी वास्तव में चैतन्यस्वभाव से भिन्न है, उसके द्वारा भी आत्मा का अनुभव नहीं होता। जिसप्रकार उंगली पर मैल के पर्त जमे हों, तो उससे शरीर के स्पर्श का ख्याल नहीं आ सकता, उसीप्रकार ज्ञान में ''राग है सो मैं हूँ''—ऐसी रागादि की रुचिरूपी मैल के पर्त जमे हों तो उसके द्वारा आत्मा का अनुभव नहीं होता। वर्तमान में ज्ञान का जो व्यक्त अंश है, वह मेरे अखण्ड ज्ञानस्वभाव का अंश है और वह ज्ञान, राग से पृथक् है;—इसप्रकार राग से भिन्नत्व जानकर अंतर के ज्ञानस्वभाव में ज्ञान को एकाग्र करने से उस ज्ञान द्वारा अखण्ड आत्मस्वभाव का अनुभव होता है; किन्तु यदि रागादि के साथ एकता मानकर अटक जाये तो वह ज्ञान आत्मस्वभावोन्मुख नहीं होता। इन्द्रियों के या मन के अवलम्बन में जो ज्ञान रुका है, उसके द्वारा भी आत्मा ज्ञात नहीं होता, इसलिये वह अचिन्त्य है। इन्द्रियों और मन के अवलम्बन से पार ऐसे अतीन्द्रियज्ञान द्वारा आत्म ज्ञात होता है। ऐसे ज्ञान के सिवा देहादि की किसी क्रिया से या व्रत-तप-त्याग के शुभराग से आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता और आत्मा को जाने बिना कभी धर्म नहीं होता।

आत्मा के शुद्धस्वभाव का भान होने के पश्चात् भी धर्मात्मा को सच्चे देव-गुरु के प्रति विनय-बहुमान का शुभभाव आता है, किन्तु जो शुभभाव आया, वह स्वयं कहीं धर्म नहीं है, धर्म तो उस शुभभाव से पृथक् ही वस्तु है। राग हुआ, इसलिये उसके आधार से धर्म स्थित है—ऐसा भी नहीं है, धर्म तो आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही स्थित है। आत्मस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म का अवलम्बन नहीं है। भाई! मेरा ज्ञानानन्दस्वरूप, राग से पार है; राग मेरे स्वरूप में अंशमात्र भी सहायक नहीं है—ऐसा एकबार लक्ष में तो ले! अपने चैतन्यतत्त्व को एकबार तो राग से पृथक् देख! राग से विमुख होकर एकबार स्वभावसन्मुख हो तो तुझे अपनी अचिन्त्य महिमा का भान हो। स्वसन्मुख ज्ञान द्वारा आत्मा का भान होता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आत्मा लक्ष में नहीं आ सकता और न परिभ्रमण रुक सकता है। जीव ने अनंतकाल से बाह्य में देखा है किन्तु

अन्तरस्वभाव को लक्ष में लेकर उसका अवलोकन कभी नहीं किया। मैं तो चैतन्यस्वभाव हूँ, जगत से भिन्न हूँ, पर का एक अंश भी मेरा नहीं है—ऐसा अन्तरस्वभाव का भान भूलकर बाह्य दृष्टि से अनादि से पर को अपना मानता है, किन्तु एक रजकण भी उसका नहीं हुआ; पर के लिये जितना प्रयत्न किया, वह सब व्यर्थ है। यदि ज्ञान को अन्तर्मुख करके अपने आत्मस्वभाव को जानने का प्रयत्न करे तो उसका ज्ञान हुए बिना न रहे। अपने स्वभाव की प्राप्ति का उद्यम करे तो उसकी प्राप्ति हुए बिना न रहे, अल्पकाल में ही उसकी परिपूर्ण प्राप्ति हो जाये; और पर को अपना करने के लिये अनन्तकाल तक प्रयत्न करे, तथापि पर का एक अंश भी उसका नहीं हो सकता। इसलिये हे जीव! बाह्य का व्यर्थ प्रयत्न छोड़कर तू अपने स्वभाव की प्राप्ति का उद्यम कर। परवस्तु को अपना बनाना तो अशक्य है और अपने स्वभाव की प्राप्ति करना, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करना सरल है; वह सम्यक् प्रयत्न से हो सकता है। इसलिये सत्समागम से यथार्थ श्रवण-मनन करके अंतर में आत्मस्वरूप की पहिचान करना और उसका अनुभव करना, वह अपूर्व हित और धर्म का उपाय है।

जिसमें जो स्वभाव भरा हो, उसमें से वह प्रगट होता है; जिसमें न हो उसमें से प्रगट नहीं होता। जिसप्रकार लैंडी पीपर में चरपराहट का स्वभाव भरा है, इसलिये उसमें से चौंसठपुटी परिपूर्ण चरपराहट प्रगट हो सकती है, किन्तु उसमें से मिठास प्रगट नहीं हो सकती। चाहे जैसी उच्च प्रकार की लैंडी पीपर हो, तथापि उसमें से मिसरी की मिठास प्रगट करना अशक्य है, क्योंकि उसमें वैसा स्वभाव नहीं है। उसीप्रकार भगवान आत्मा में ज्ञान और आनन्द स्वभाव भरा है, उसे लक्ष में लेकर उसमें एकाग्र होने पर केवलज्ञान और पूर्ण आनन्द का अनुभव प्रगट हो सकता है। आत्मा चाहे जितना प्रयत्न करे, तथापि जड़ शरीरादि को अपना बनाना अशक्य है, क्योंकि वह अपनी वस्तु नहीं है और जिसमें जो स्वभाव है, वह बाहर से नहीं आता। जैसे—लैंडी पीपर में जो चौंसठपुटी चरपराहट प्रगट होती है, वह कहीं बाहर से नहीं आती, किन्तु उसमें स्वभाव भरा है; इसलिये प्रगट होती है; उसीप्रकार आत्मा में जो परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट होते हैं, वे किन्हीं बाह्य साधनों से प्रगट नहीं होते, किन्तु अंतर में त्रिकाली चिदानन्दस्वभाव में परिपूर्ण सामर्थ्य भरा है, उसी में से प्रगट होते हैं। भगवान! तेरे स्वभाव में अचिन्त्य सामर्थ्य भरा है, परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द प्रगट होने की शक्ति इसी समय तेरे आत्मा में भरी है, उसका तू विश्वास कर... शुद्धनय द्वारा अपने अंतरस्वभाव को लक्ष में ले। जीव ने कभी अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को लक्ष में नहीं लिया, शुद्धनय का पक्ष नहीं किया, अर्थात् मेरा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप राग से पार निरावलम्बी है—ऐसा

अन्तर्लक्ष कभी नहीं किया। आत्मा के ऐसे अंतर्स्वभाव के अतिरिक्त बाह्य में अन्य कोई जीव को शरणभूत नहीं है; अंतर में स्वानुभवगम्य भगवान आत्मा है, वही शरणभूत है, वह तुम्हारी रक्षा करे!—ऐसा कहकर आचार्यदेव आशीर्वाद देते हैं। राग या देह की क्रिया कोई आत्मा के रक्षक नहीं हैं, तथा अन्य कोई इस आत्मा का रक्षक नहीं है। किन्तु अंतर में अपने अतीन्द्रिय अचिन्त्य आत्मस्वभाव का लक्ष और प्रतीति कर, वही तेरे रक्षक हैं। भाई! इस जगत में चैतन्यतत्त्व ही तेरा रक्षक और शरणभूत है, इसलिये चैतन्यस्वरूपोन्मुख होकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान कर और उसी की शरण ले!

आत्मा की लगन

जिसे शुद्ध आत्मा समझने की लगन लगी है—ऐसे जिज्ञासु जीव को प्रश्न उठता है कि शुद्ध आत्मा का स्वरूप क्या है? जिसप्रकार किसी को रेगिस्तान में प्यास लगी हो, पानी के लिये तरस रहा हो, उसे पानी का ठिकाना सुनकर कितनी आतुरता होती है! और फिर पानी पीकर कितना तृप्त होता है!—उसीप्रकार इस भवरूपी रेगिस्तान में भटकते-भटकते जिसे आत्मा का स्वरूप जानने की लालसा जागृत हुई है, वह शुद्ध आत्मा की बात सुनकर आनंदित होता है—उल्लसित होता है; और फिर सम्यक्पुरुषार्थ द्वारा आत्मस्वरूप को प्राप्त करके तृप्त होता है। जिसे शुद्ध आत्मस्वरूप को जानने की तीव्र जिज्ञासा हुई है—ऐसे जीव को यह बात सुनाई जा रही है।

जिसके अंतर में आत्मा को समझने की सच्ची आकांक्षा और आतुरता जागृत हुई है, उसके अंतर में अवश्य ही समझने का मार्ग बन जायेगा; और अपनी आकांक्षा के बल से वह अंतर में मार्ग बनाकर आत्मस्वरूप को प्राप्त कर ही लेगा।

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

[अंक १३३ से आगे]

[श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में आचार्यदेव ने ४७ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार]

हे भगवान! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो सकता है? वह समझाइये!—ऐसा जिज्ञासु शिष्य ने पूछा है।—जिसे आत्मा का स्वरूप जानकर उसे प्राप्त करने की भावना है, इसके सिवा स्वर्गादि संयोगों की भावना नहीं है—ऐसा आत्मार्थी जीव श्रीगुरु से पूछता है कि प्रभो! अनादि काल से जिसे नहीं जाना है—ऐसे आत्मा का स्वरूप जानकर मैं उसकी प्राप्ति कर लूँ और मेरे संसारपरिभ्रमण का अंत हो,-ऐसा स्वरूप मुझे समझाइये!

आचार्य भगवान ऐसे जिज्ञासु शिष्य को आत्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं, उसी का यह वर्णन हो रहा है। यदि आत्मा के धर्मों द्वारा उसके यथार्थ स्वरूप को पहिचाने तो उसमें एकाग्र होकर उसे प्राप्त कर ले और संसारपरिभ्रमण का अन्त हो जाये। इसलिये आत्मा की मोक्षदशा प्राप्त करना हो और संसारपरिभ्रमण से छूटना हो, उसे आत्मस्वरूप की पहिचान करना चाहिये।

(३६) गुणीनय से आत्मा का वर्णन

"आत्मद्रव्य गुणनय से गुणग्राही है—जिसे शिक्षक द्वारा शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमार की भाँति।"

जिसप्रकार—शिक्षक जैसा सिखलाता है, वैसा कुमार सीख लेता है; उसीप्रकार निमित्तरूप ज्ञानी गुरु से आत्मा बोध ग्रहण करता है;—ऐसा उसका एक धर्म है। श्रीगुरु जैसा उपदेश दें, वैसा ग्रहण कर लेने की आत्मा में शक्ति है। सम्यग्दर्शनादि गुणों का ग्रहण करने में गुरु तो निमित्त हैं, किन्तु उन गुणों को ग्रहण करने का नैमित्तिक धर्म तो इस आत्मा का है। गुरु से गुण ग्रहण किये-अमुक गुरु से सम्यक्त्वग्रहण किया, अमुक गुरु से चारित्र ग्रहण किया,—ऐसा कहा जाता है, किन्तु उन गुणों को ग्रहण करने की शक्ति किसकी है? वह धर्म तो जीवों का है; इसलिये

गुणग्राहीनय में भी निमित्ताधीनपना नहीं है, वह नय भी आत्मा के धर्मों को देखता है। प्रत्येक धर्म अपनी स्वशक्ति से है, पर के कारण नहीं है—ऐसा जानता है।

और यहाँ जो ''गुणग्राही'' कहा है, उसमें ''गुण'' अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि। गुरु से ऐसे गुणों को ग्रहण करने की आत्मा में शक्ति है। तो फिर जिस गुरु के निमित्त से ऐसे गुणों को ग्रहण करता है, उस गुरु के पास भी सम्यक्त्वादि गुणों का भंडार होना चाहिये। गुरु के पास गुण होंगे, तभी तो शिष्य ग्रहण करेगा न? इसलिये गुरु भी सम्यग्दर्शनादि गुणों सहित ज्ञानी ही होना चाहिये। अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि ऐसे कुगुरु के पास तो सम्यग्दर्शनादि कोई भी गुण नहीं होते, इसलिये उससे कैसे गुणग्रहण किये जा सकते हैं? अज्ञानी के पास से जो गुणग्रहण करना मानता है, उसने वास्तव में गुणों को पहिचाना ही नहीं;—ऐसे जीव के गुणग्राहीनय नहीं होता। जिसने सम्यग्दर्शनादि गुणों का ग्रहण किया हो, वह निमित्त में आरोप करके ऐसा कह सकता है कि ''अहो! मैंने अपने गुरु से गुणग्रहण किया, मेरे गुरु ने मुझे सम्यग्दर्शन प्रदान किया,''—और उसके गुणग्राहीनय होता है। किन्तु जिसने अभी सच्चे गुरु को ही नहीं पहिचाना, गुणों का ग्रहण ही नहीं किया, वह तो ''गुरु ने गुण दिये''—ऐसा उपचार से भी नहीं कह सकता; उसके गुणग्राहीनय नहीं होता।

देखो, यहाँ ऐसा भी कहा है कि श्रीगुरु जो कुछ समझायें, वह सब समझकर ग्रहण करने की आत्मा में शक्ति है। ''अत्यंत सूक्ष्म बात हो तो आत्मा ग्रहण नहीं कर सकता''—ऐसा नहीं कहा है। इसलिये चाहे जैसी सूक्ष्म बात को समझने की आत्मा में शक्ति है;—सम्यग्दर्शन से लेकर ठेठ केवलज्ञान तक के गुणों को ग्रहण कर सके ऐसा आत्मा का धर्म है।

पुनश्च, आत्मा ''गुणग्राही'' है, इसलिये गुणों को ग्रहण करने का उसका स्वभाव है, किन्तु दोषों को या पर को ग्रहण करे-ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। दोष को या निमित्त को जानता अवश्य है, किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करता, सम्यग्दर्शनादि गुणों को ही ग्रहण करता है। और उन गुणों का ग्रहण तो स्वभाव के आश्रय से ही होता है, इसलिये इस गुणीनय में भी शुद्धचैतन्यस्वभाव के आश्रय का ही अभिप्राय है।

निमित्तरूप गुरु से गुणग्रहण करता है;—उसमें भी यही बात आई कि जैसा गुरु समझाते हैं, वैसा ही स्वयं समझ जाता है; ज्ञानी गुरु के अभिप्राय से किंचित् विपरीत ग्रहण नहीं करता। गुरु कुछ कहें और शिष्य कुछ और ही ग्रहण करे—ऐसा नहीं है; किन्तु जैसा गुरु कहें, वैसा ही शिष्य

ग्रहण करता है—ऐसा उसका गुणग्राही धर्म है। श्रीगुरु आत्मा के शुद्धस्वभाव पर भार देना चाहते हैं और शिष्य भी ऐसा ही समझकर गुणग्रहण करता है। श्रीगुरु कहते हैं कि हे जीव! तूने अपनी भूल से अनंतभव धारण किये हैं, तथापि एक अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करने की तेरे आत्मा में शक्ति है—ऐसे अपने स्वभाव का विश्वास कर तो तेरा भवभ्रमण दूर हो जाय। गुरु की ऐसी शिक्षा ग्रहण करके तदनुसार आचरण करने की शिष्य में शक्ति है। जिसप्रकार ब्लॉटिंग पेपर का स्वभाव स्याही को चूस लेने का है अथवा कोरे घड़े पर पानी गिरते ही वह घड़ा उसे सोख लेता है; उसीप्रकार श्रीगुरु जैसा कहते हैं, वैसा ही झेलकर शिष्य चूस लेता है—आत्मसात् कर लेता है और अपने में गुण प्रगट करता है।—ऐसा गुणग्राही आत्मा है।

अपने गुणों में निमित्तरूप गुरु का ज्ञान करते समय ऐसा भी कहा जाता है कि इन गुरु ने मुझे चैतन्यविद्या प्रदान की। गुरु ने विद्या दी, किन्तु उसे ग्रहण किसने किया? गुरु ने जो सिखलाया उसे ग्रहण करने का स्वभाव तो आत्मा का है, कहीं गुरु बलात् ग्रहण नहीं करा देते। गुणों को ग्रहण करे—ऐसा गुणग्राही धर्म आत्मा का अपना है। इस प्रकार गुणीनय का भार परनिमित्त के ऊपर नहीं है,—जैसा निमित्त हो, वैसा ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है, किन्तु गुणग्राही धर्म का धारण करनेवाला अन्तर में शुद्धचैतन्यद्रव्य है, उसे देखना इस गुणनय का तात्पर्य है।

नय है, वह धर्म को देखता है; धर्म अकेला नहीं रहता, किन्तु अनन्त धर्म के पिण्ड ऐसे धर्मी के आधार से रहता है; इसलिये धर्मी की (चैतन्य द्रव्य की) दृष्टि रखकर जो उसके एक-एक धर्म को जानता है, वही सच्चा नय है। गुणीनय से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा, गुरु के पास से गुण ग्रहण करे—ऐसा गुणग्राही है। किन्तु वहाँ धर्मी जानता है कि ऐसा गुणग्राही धर्म भी मेरे आत्मद्रव्य का है—मेरा धर्म कहीं गुरु के आधार से नहीं है; इसलिये मुझे अपने आत्मा की ओर ही देखना है। इसप्रकार धर्मी जीव नय के सभी पक्षों को स्वोन्मुख करके अंतर में अपने आत्मा को शुद्धचैतन्य स्वरूप देखता है। शुद्धचैतन्य मात्र आत्मा पर दृष्टि करे, उसी को इन नयों का सच्चा ज्ञान होता है।

जिसप्रकार उष्णता अग्नि का ज्ञान कराती है, क्योंकि वह उसका स्वभाव है; उसीप्रकार यह गुणग्राही धर्म किस वस्तु का ज्ञान कराता है?—निमित्त का ज्ञान नहीं कराता, क्योंकि वह निमित्त का धर्म नहीं है; वह तो धर्मी ऐसे आत्मद्रव्य का ही ज्ञान कराता है कि "यह धर्म इस आत्मा है।"—इसप्रकार नय का ध्येय भी शुद्ध आत्मा को लक्ष में लेने का है। किसी भी नय का ध्येय पराश्रय कराने का नहीं है।

आत्मा गुणग्राही है-ऐसा कहा, उसका यह अर्थ नहीं है कि जहाँ-तहाँ पर में से गुणग्रहण करना चाहिये। पर में आत्मा का कोई गुण है ही नहीं। पर में से मेरे गुण आयेंगे—ऐसा मानकर पर सन्मुख ही देखता रहे तो उसके कभी सम्यग्दर्शनादि गुण प्रगट नहीं होंगे। और कितने ही लोग तो ऐसा कहते हैं कि—''सामनेवाला जीव भले ही मिथ्यादृष्टि या चाहे जैसा हो, लेकिन हम किसी को क्यों बुरा कहें ? हमें तो सबके पास से गुणग्रहण करना चाहिये।''—तो यह कोई गुणग्राहीपना नहीं है, यह तो विनयमिथ्यादृष्टि है; सच्चे-झूठे का भी उसे विवेक नहीं है। श्रीगुरु ने जिसप्रकार कहा है, उसीप्रकार समझकर अपने स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि प्रगट करने का नाम गुणग्राहीपना है।

''हे प्रभो! हम कुछ नहीं जानते थे, हम तो बालक थे, आपने हमें सूक्ष्म चैतन्यतत्त्व की शिक्षा दे-देकर हमारा उद्धार किया है, आपने ही हमें आत्मविद्या सिखाई है''—इसप्रकार शिष्य गुणीनय से कहता है, किन्तु उस गुण को ग्रहण करने का स्वभाव तो मेरा है,—ऐसा यदि स्वाश्रय की दृष्टि रखकर कहे तो उसके सच्चा गुणीनय है। यहाँ तो चारों पक्ष से स्वाश्रय की पुष्टि है। अहो! यथार्थ दृष्टि रखकर किसी भी पक्ष से देखे तो आत्मा में केवलज्ञान का कंद खड़ा होता है। आत्मा को देखनेवाला जो श्रुतज्ञान है, वह अनंतनयोंवाला है; उसमें से किसी भी नयपूर्वक आत्मा को देखे तो आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड शुद्धचैतन्यमूर्ति ही दृष्टिगोचर होता है।

विनयी शिष्य गुणीनय से ऐसा कहता है कि हे प्रभो! हम कहाँ खड़े थे और आपने धीरे-धीरे हमें कहाँ ला दिया ? हमारा सारा चक्र ही बदल दिया! आप न मिलते तो हम कैसे धर्म प्राप्त करते ? दर्शनसार में श्री देवसेनाचार्य ने भी कहा है कि—''श्री सीमंधर भगवान से प्राप्त किये हुए दिव्य ज्ञान द्वारा ही पद्मनन्दिनाथ ने अर्थात् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?'' ऐसे गुणीनय से विचार करते समय धर्मी को अन्तर में भान है कि गुणों को ग्रहण करे—ऐसा धर्म तो मेरा अपना है। धर्म को देखनेवाला नय, वह वर्तमान ज्ञान है; वर्तमान द्वारा त्रिकाली स्वभाव को देखना, धर्म द्वारा धर्मी को लक्ष में लेना, वह नय का फल है। मुख्य ध्येय तो अखण्डानन्द ध्रुव चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा है; उसी के अवलम्बन से सम्यक्दर्शन, उसी के अवलम्बन से सम्यक्ज्ञान, उसी के अवलम्बन से सम्यक्चारित्र, और उसी के अवलम्बन से पूर्ण वीतरागता तथा केवलज्ञान है। चाहे जिस नय से, चाहे जिस धर्म का वर्णन हो, किन्तु इस मूल ध्येय को लक्ष में रखकर ही सारी बात है।

गुणीनय से ऐसा कहा है कि गुरु के पास से गुणों को ग्रहण करे—ऐसा गुणग्राही धर्म हैं;—किन्तु वह धर्म किसका ?—गुरु का या आत्मा का ?—वह धर्म आत्मा का ही है, इसलिये उसमें भी आत्मा की ओर ही देखना आया। कथन भले ही निमित्त से हो, किन्तु दृष्टि में तो धर्मी को शुद्धचैतन्यद्रव्य का ही आश्रय होता है। गुणीनय के दृष्टान्त में शिक्षक द्वारा कुमार को शिक्षा देना कहा है, किन्तु वह शिक्षा लेनेवाला तो कुमार है न ? कुमार में वह ग्रहण करने की शक्ति है; उसीप्रकार सिद्धान्त में भी समझना चाहिये कि—गुरु सिखलाते हैं और शिष्य तदनुसार गुणों को ग्रहण करता है, वहाँ गुणों को ग्रहण करने का धर्म शिष्य का है। शिष्य ही अपनी शक्ति से गुरु का उपदेश झेलकर गुणग्रहण करता है। किसी भी नय से आत्मा के धर्म को देखें तो वहाँ एक धर्म को पृथक् करके देखने का ध्येय नहीं है, किन्तु शुद्धचैतन्यस्वरूप निज आत्मा दिखाई देता है।

श्रीगुरु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जैसी शिक्षा देते हैं, वैसा ही ग्रहण करे, ऐसा आत्मा का एक धर्म है; वह धर्म देखनेवाले को भी धर्मी ऐसे आत्मद्रव्य सन्मुख देखना रहता है। निमित्त का भेदज्ञान कराया है, किन्तु वह धर्म तो आत्मा का अपना है।

विकल्प के समय गुणीनय से शिष्य ऐसा कहता है कि इन गुरु के पास से गुण ग्रहण किये। अब ऐसे विकल्प के समय भी उस विकल्प को या निमित्त को ग्रहण नहीं करता, किन्तु उससमय भी विकल्प और निमित्त दोनों के साक्षी रहने का धर्म जीव में है; उसका वर्णन अब 'अगुणीनय' से करते हैं।

—यहाँ ३६वें गुणीनय से आत्मा का वर्णन हुआ।

❀ ❀ ❀

(३७) अगुणीनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य अगुणीनय से मात्र साक्षी है;—शिक्षक द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है—ऐसा जो कुमार, उसे देखनेवाले पुरुष की भाँति।

यहाँ जो ''अगुणीनय'' कहा, वह दोषसूचक नहीं है किन्तु आत्मा के साक्षीपने का सूचक है। गुरु के पास से ज्ञान प्राप्त करूँ—ऐसा निमित्त की ओर का विकल्प आये, किन्तु वह विकल्प ही करने का आत्मा स्वभाव नहीं है, विकल्प और वाणी दोनों के साक्षीरूप रहने का आत्मा का धर्म है। भगवान या संतों की वाणी झेलकर आत्मा गुण ग्रहण करता है—ऐसा कहनेवाला गुणीनय भी आत्मा को ही बतलाता है; और आत्मा किसी अन्य के पास से नहीं सीखता, वह तो साक्षीरूप से

दृष्टा ही है—ऐसा कहनेवाला यह अगुणीनय भी आत्मा को ही बतलाता है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि को झेलकर पात्र जीव सम्यग्दर्शनादि प्राप्त कर लेते हैं, गणधरदेव बारह अंगों की रचना करते हैं; तो क्या वहाँ आत्मा ने पर से गुणग्रहण किये ?—नहीं; उससमय भी साक्षी रहने का आत्मा का स्वभाव है। दिव्यध्वनि का भी साक्षी, गुरु के उपदेश का भी साक्षी, उससमय जो विकल्प वर्त रहा हो, उसका भी साक्षी—ऐसा आत्मा का धर्म है। कहीं पर में से गुणों की प्राप्ति होगी—ऐसा धर्मी नहीं मानता और न पर के लिये विकल्प उठता है। विकल्प के समय भी उसे अपने साक्षी स्वभाव की प्रतीति है। साक्षीपना और गुणग्राहीपना दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ हैं। सम्यक्नय की विवक्षा से देखने पर परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को साथ रहने में कोई विरोध नहीं आता, किन्तु यथार्थ वस्तुस्वरूप सिद्ध होता है। नयों की विवक्षा उलझन का कारण नहीं है किन्तु उलझन मिटाकर ज्ञान की स्पष्टता का कारण है।

❀ अनन्त धर्मों स्वरूप आत्मद्रव्य है;

❀ अनन्तनयों स्वरूप श्रुतज्ञानप्रमाण है;

❀ उस श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा आत्मद्रव्य प्रमेय होता है।

❀ अनंत धर्मों को जाननेवाले अनंत नय हैं।

❀ चैतन्यमूर्ति आत्मद्रव्य की पहिचान कराने के लिये यहाँ कुछ नयों से उसके धर्मों का वर्णन किया है।

❀ उनमें इस ३७ वें ''अगुणीनय'' से आत्मा के साक्षीधर्म का वर्णन चल रहा है।

जिसप्रकार शिक्षक द्वारा कुमार को शिक्षा दी जाती हो और उससमय दूसरा आदमी वहाँ खड़ा-खड़ा देख रहा हो, उसमें कुमार तो शिक्षणग्रहण करनेवाला है और दूसरा आदमी तो उसका साक्षी ही है। कुमार को आये तो खुशी होती है और न आये तो उलझन में पड़ जाता है, ऐसा नहीं, किन्तु जो मध्यस्थरूप से देखनेवाला है, वह तो साक्षी ही है। उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा साक्षीरूप से देखनेवाला है। विकल्प उठने से गुरु आदि निमित्त पर लक्ष जाता है, तब गुणग्राही कहा,—ऐसा एक धर्म है, और विकल्परहित मात्र—शुद्धज्ञानचेतनारूप रहे, ऐसा साक्षी स्वभाव भी आत्मा में है। ''गुणग्राही'' में किंचित् विकल्प है और साक्षीपने में विकल्प नहीं है। वाणी का साक्षी, विकल्प का साक्षी, सारे जगत का साक्षी—ऐसा आत्मा का स्वभाव है।

(१) यहाँ जो साक्षीपना कहा है, वह गुणग्राहीपने के सामने कहा है।

(२) अब ३९ वें नय में साक्षीपना कहेंगे, वह राग के कर्तृत्व सामने (समक्ष) साक्षीपना कहेंगे।

(३) ४१ वें नय में हर्ष-शोक के भोक्ता सन्मुख का साक्षीपना कहेंगे।

—इसतरह तीन प्रकार से आत्मा का साक्षीपना कहेंगे।

देखो, आत्मा का साक्षी स्वभाव! निमित्त का साक्षी, कर्म के उदय का साक्षी, शरीर पर घोर उपसर्ग आ पड़े, उसका भी साक्षी, अल्प राग या द्वेष हो उसका भी साक्षी;—इसप्रकार सारे जगत का साक्षी रहने का स्वभाव है, कहीं उथलपुथल करने का स्वभाव नहीं है। राग की पर्याय का क्रम बदल दूँ—यह बात भी साक्षीपने में नहीं रहती। अहो! ऐसे साक्षी स्वभाव का स्वीकार करके, साक्षीरूप से जैसा है, वैसा देख। कहीं फेरफार नहीं हो सकता; तू फेरफार करने का अभिप्राय करेगा तो तेरा ज्ञान मिथ्या होगा। पर में तो तू फेरफार नहीं कर सकता; किन्तु अपनी पर्याय में फेरफार करके उसे भी आगे-पीछे नहीं कर सकता; क्योंकि जो पर्याय हुई है, वह बदल नहीं सकती, और जो नहीं हुई है, उसमें भी फेरफार नहीं हो सकता; इसलिये तू साक्षीरूप से प्रेक्षक ही रह! ऐसा साक्षीपना कहकर यहाँ आत्मा का शुद्धचेतनास्वभाव बतलाया है।

अगुणीनय से आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि दूसरे के पास से गुणग्रहण नहीं करता किन्तु साक्षीरूप से ही रहता है। गुणीनय से गुणग्रहण का विकल्प हो, किन्तु उस विकल्प के समय भी धर्मी को ऐसे साक्षीस्वभाव का भान वर्तता है, इसलिये उसके विकल्प की मुख्यता नहीं है किन्तु साक्षी-स्वभाव की ही मुख्यता है; उसकी पर्याय में प्रतिक्षण साक्षीपने का परिणमन बढ़ता जाता है और विकल्प टूटता जाता है। साधक के "अगुणीनय" सदैव नहीं होता किन्तु साक्षीपने का परिणमन तो सदैव प्रवर्तमान ही है। "नय" तो तभी होते हैं, जब उस ओर उपयोग को लगाये।

— इसप्रकार ३७ वें अगुणीनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

(अब, साधक की पर्याय में कुछ रागादि होते हैं, उतना राग का कर्तृत्व है, और स्वभाव की मुख्यता में उसी समय उसका साक्षीपना हैं—इन दोनों धर्मों का वर्णन ३८-३९ वें नयों में करेंगे।)

प्रौढ़ उम्र के गृहस्थों के लिये जैनदर्शन शिक्षण-वर्ग

इस साल गुरुवार ता. ९-८-५६ से ता. २९-८-५६ तक तत्त्वज्ञान के अध्ययनार्थ सोनगढ़ में जैनदर्शन शिक्षणवर्ग का प्रारंभ होगा। वर्ग में सम्मिलित होने के इच्छुक जिज्ञासु जैन बंधुओं को अपने आने की अग्रिम सूचना प्रेषित कर देना चाहिये और निश्चित की हुई अवधि के दरमियान आ जाना ही चाहिये।

इस बार शिक्षण-वर्ग में जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, द्रव्यसंग्रह, मोक्षमार्गप्रकाशक (अध्याय ९) तथा प्रवचनसार ज्ञेय-अधिकार में से कुछ भाग का अध्ययन आरंभ किया जायगा।

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

भगवान को नमस्कार

अहो भगवान!

स्वाश्रय के द्वारा आप ज्ञानसंपत्ति को प्राप्त हुए, और स्वाश्रय के द्वारा ज्ञान-संपत्ति की प्राप्ति का ही उपदेश आपने हमें दिया। हम उस उपदेश से परिप्लावित होकर... ज्ञान-संपत्ति की ओर झुककर... आपको नमस्कार करते हैं, आपके पंथ की ओर आ रहे हैं।

इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।

— पूज्य गुरुदेवश्री

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी